स्वतंत्रता के बाद के भारत में शिक्षा और समाज : भविष्य की ओर दृष्टि*

कृष्ण कुमार

शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में तीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं : पहली प्रवृत्ति प्राथमिक और माध्यमिक स्तर से आगे शिक्षा हासिल करने वाले बच्चों की संख्या में अत्यधिक कमी आने से सम्बन्धित है; दूसरी प्रवृत्ति उच्च शिक्षा की प्रधानता से सम्बन्धित है जिसमें समाज के सांस्कृतिक रूप से प्रभावशाली और आर्थिक रूप से मजबूत वर्ग राज्य के संसाधनों का उपयोग राज्य तंत्र पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए करते हैं; और तीसरी प्रवृत्ति व्यवस्था में निहित विभाजन से सम्बन्धित है, जो वर्ग हितों की रक्षा करता है। प्रश्न यह है कि ये प्रवृत्तियाँ नई आर्थिक नीति के भविष्य को किस प्रकार प्रभावित करेंगी, और खुद इनमें किस तरह का बदलाव आएगा?

इस दशक (1990 के दशक) की शुरुआत में भारत की आर्थिक नीतियों में बड़े बदलाव किए गए। हालाँकि इनमें से कुछ बदलाव कम से कम एक दशक से घटित होने वाले थे, लेकिन औपचारिक रूप से 'नई आर्थिक नीति' की घोषणा में जिस तरह की शब्दावली का प्रयोग किया गया, उसके कारण यह ज्यादा नाटकीय लगी। सरकारी नीति की पुरानी शब्दावली में 'नियोजन', 'मिश्रित अर्थव्यवस्था', 'आत्म-निर्भरता' और 'समाजवादी स्वरूप' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था। इस तरह की शब्दावली 1950 के दशक में उत्पन्न हुई जब भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में भारत को औपचारिक रूप से गुटनिरपेक्ष रखने का विकल्प चुना, जिसमें भारत अपने पैरों पर खड़ा था, लेकिन कुछ हद तक वाम पक्ष की ओर झुका हुआ था। 1990 की नई शब्दावली में भी आत्मनिर्भर रहने के महत्त्व पर बल दिया गया, लेकिन इस समय दक्षिणपंथ (right) की ओर झुकाव देखा जा सकता था। इस नए माहौल में सरकारी नीति और प्रभुत्वशाली विचार में 'उदारीकरण', 'निजीकरण', 'वैश्वीकरण', और 'बाजार अनुकूलता' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा।

ये परिवर्तन भी पूरी तरह से खुद भारत द्वारा नहीं किए गए थे। शीत युद्ध के अन्त के कारण भारत और अन्य स्थानों के माहौल में काफी बदलाव हुआ। इसके कारण, विशेष रूप

---

* *Economic and Political Weekly* पत्रिका के जून, 1998 के अंक से उद्धृत।

से इलेक्ट्रॉनिक और संचार के क्षेत्र में तकनीकी बदलाव भी हुए। पूरी दुनिया में पूँजी के मालिकों और प्राकृतिक तथा श्रम संसाधन रखने वाले लोगों के बीच बड़े पैमाने पर समायोजन हो रहा है।[1] पश्चिम में बदलावों को कुछ हद तक नाटकीय रूप से देखा जाता रहा है। वहाँ के कई लोगों ने इसे इतिहास के अन्त के रूप में देखा। भारत में अमूमन बदलावों के बारे में यह माना जाता है कि यह भी गुजर जाएगा, लेकिन नई नीतियों और उनके कारण समाज और राजनीति में होने वाले बदलावों ने काफी गरमा-गरम वाद-विवाद को जन्म दिया है। मेरी पीढ़ी के बहुत से लोगों के मन में बचपन की यादों में महात्मा गाँधी और नेहरू की छाप अभी मौजूद हैं। ऐसे लोग इन बदलावों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, और वे इनसे हतप्रभ भी हैं। कल तक राज्य हमारे इस विश्वास को दर्शाता था कि गाँवों की आत्मनिर्भरता की कुर्बानी दिए बगैर भारत का आधुनिकीकरण किया जा सकता है। अब अचानक हम यह पाते हैं कि राज्य ने अपनी बातों को कहने का अन्दाज बदल दिया है, तथा राज्य और गाँव दोनों के ही भूगोल को तरल और पारगम्य माना जाने लगा है। हम अपने बच्चों को यह पढ़ाने में असहज महसूस करते हैं कि अन्तर्निभर दुनिया में आत्मनिर्भरता और संयम मिथक हैं।

नई आर्थिक नीतियों के भविष्य के बारे में वर्तमान बहस को संक्षेप में तीन रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। पहली स्थिति यह है कि नई नीति को जबरदस्त सफलता मिलेगी, यह विश्व बैंक सहित अपने अन्य प्रतिपादकों द्वारा तय किए गए लक्ष्य को हासिल करेगी; भारत निर्यात को बढ़ावा देकर तथा विदेशी पूँजी को आकर्षित करके 'आर्थिक संवृद्धि की उच्च दर' हासिल करेगा। उत्पादकता बढ़ने का लाभ समाज के सबसे निचले स्तर तक जाने के कारण गरीबी और बेरोजगारी कम होगी। यह भी याद रखने की आवश्यकता है कि जनसंख्या का यह निचला हिस्सा देश की कुल जनसंख्या का तकरीबन 60 से 70 प्रतिशत भाग है। इस स्तर पर रहने वाले लोग भूमिहीन ग्रामीण मजूदर, छोटी जोत वाले किसान, ग्रामीण कारीगर, घरेलू उद्योगों, असंगठित क्षेत्रों और भवन-निर्माण जैसे कामों में लगे शहरी मजदूर हैं। इस पहली स्थिति में यह माना जाता है कि जनसंख्या का यह बड़ा हिस्सा धीरे-धीरे साक्षर श्रम-शक्ति में बदल जाएगा, तथा यह पूरी तरह से मौद्रीकृत खुली अर्थव्यवस्था में भागीदारी करने में समर्थ हो जाएगा।

दूसरी स्थिति यह है कि चूँकि निर्यात पर निर्भर अर्थव्यवस्था सामाजिक विभाजनों को ज्यादा गहरा करेगी, इसलिए यह जनसमूह राजनीतिक रूप से अशान्त निम्न वर्ग (underclass) का निर्माण करेगा। एक छोटा अभिजन समूह वस्तुओं और सेवाओं के वैश्विक आदान-प्रदान में

सक्रिय रूप से भागीदारी करेगा, और अर्थव्यवस्था से होने वाले अधिकांश लाभ पर इसका कब्जा होगा। ऐसी स्थिति में नई आर्थिक नीतियाँ आपदा की ओर ले जाती हैं। राज्य धनवान लोगों की सुरक्षा में अपने संसाधन लगाएगा, ताकि गरीबों का दुख और उनका विरोध अमीर लोगों के आनन्द और उनके हितों में किसी तरह की बाधा न डाले। भारत कर्ज के जाल में फँस चुका है, इसके कारण स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में इसके पहले से खस्ताहाल प्रयास और भी खराब होंगे। तेजी से बढ़ते उद्योगीकरण, खनन, बाँध निर्माण, वनों की कटाई, परिवहन और शहरीकरण से पर्यावरण की छोटे किसानों, काश्तकारों तथा आदिवासियों की जीविका को पूरा करने की क्षमता कम होती है। राज्य को वंचित वर्गों के बीच लगातार होने वाली असंगठित उथल-पुथल को शान्त करने के लिए अपने लोकतांत्रिक चरित्र को छोड़ना पड़ता है, तथा वह एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के एजेंट के रूप में काम करने लगता है।

तीसरी स्थिति में नई आर्थिक नीतियाँ न तो पूरी तरह सफल होंगी और न ही ये समाप्त होंगी। अमीर लोगों के उपभोग का स्तर पश्चिमी समाज के स्तर तक पहुँच जाएगा तथा हाशिए पर रहने वाले निम्न वर्ग को वैश्वीकृत उत्पादन और सेवाओं के साथ एक कम महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध में शामिल किया जाएगा। बाकी लोग वैश्वीकरण की गति पर लगाम लगाने के राजनीतिक साधन खोज लेंगे। उच्चतर संवृद्धि दर की एक छोटी अवधि के बाद अर्थव्यवस्था में मन्दी आएगी और विदेशी पूँजी समाप्त हो जाएगी। बड़े पैमाने पर निजीकरण की पृष्ठभूमि में राज्य नियामक भूमिकाओं के साथ-साथ बचे हुए संसाधनों के वितरण में भी प्रमुख भूमिका निभाएगा। नई नीतियों के परिणाम को पुरानी प्रवृत्तियों से अलग करना अत्यन्त कठिन होता जाएगा।

भारत में प्रासंगिक कारकों की बहुलता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ तीनों स्थितियों की सम्भावना है, लेकिन मैं अपनी वरीयताओं के बारे में आखिर में ही बताऊँगा। मैं शिक्षा की खिड़की से दुनिया को देखने का आदी हूँ, परन्तु यह सुस्पष्ट भविष्यवाणी करने के लिए उपयोगी नहीं है। शिक्षा को भविष्य के लिए एक अच्छा द्वार माना जाता है; हालाँकि यह भविष्य को देखने के लिए एक अच्छी खिड़की नहीं है। इस सन्दर्भ में एक बात तो यह है कि शिक्षा के परिणाम ऐसी बहुत सी बातों पर निर्भर करते हैं, जिन्हें हम स्कूल में नहीं पढ़ाते हैं– ये ऐसी बातें होती हैं जिन्हें बच्चे और युवा अपने व्यापक सामाजिक परिवेश से समाजीकरण के रूप में सीखते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो अँगरेजों की औपनिवेशिक शिक्षा से सिर्फ अधीनस्थ अधिकारी या क्लर्क ही जन्म लेते, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले विचारक नहीं।

इसी तरह, सोवियत संघ को बच्चों की उस तीसरी पीढ़ी द्वारा बचा लिया जाता, जिनकी परवरिश यह शिक्षा देकर की गई थी कि सोवियत संघ एक अद्भुत सफलता था। पिछले छह वर्षों में हमारे देश में तथाकथित आर्थिक सुधारों को सक्रियतापूर्वक लागू किया गया है, लेकिन इस अवधि में शिक्षा की स्थिति विशेष रूप से भ्रामक रही है। इस अवधि के दौरान यह उम्मीद की गई थी कि राज्य विश्व बैंक के निर्देशों को मानते हुए खुद को कल्याणकरी कामों के बोझ से मुक्त करेगा लेकिन राज्य के द्वारा बड़े पैमाने पर साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों को आरम्भ किया गया है। निश्चित रूप से, प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों को विदेशी सहायता और ऋण प्राप्त था, और इसमें तथा साक्षरता की परियोजनाओं में जिन पद्धतियों का प्रयोग किया गया, उससे इन कार्यक्रमों में पूरा भरोसा पैदा नहीं होता है; किन्तु इस बात से शायद ही कोई इन्कार कर सकता है कि इन राष्ट्रव्यापी कार्यक्रमों ने उन आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जिनकी राज्य द्वारा लम्बे समय से उपेक्षा की गई थी। इसी तरह, संविधान में जल्द होने वाले संशोधन में प्राथमिक शिक्षा को एक मौलिक अधिकार का दर्जा दे दिया जाएगा; हो सकता है कि यह नीतिगत स्तर पर किसी महत्त्वपूर्ण बदलाव को न दर्शाए, लेकिन न्यायिक सक्रियतावाद (activism) और स्वैच्छिक संगठनों के बीच बच्चों की शिक्षा में रुचि में वृद्धि के सन्दर्भ में हम यह उम्मीद कर सकते हैं कि संवैधानिक संशोधन शिक्षा की व्यवस्था में, विशेष रूप से, नौकरशाही में जवाबदेही की माँग को बढ़ावा देंगे।

ये घटनाक्रम संरचनात्मक समायोजन और उदारीकरण की नीतियों के सन्दर्भ में अमूमन इस्तेमाल की जाने वाली शब्दावली से सुसंगत नहीं लगते हैं। शायद इन नीतियों के वास्तविक निहितार्थ का सामने आना अभी बाकी है। मसलन, ये दावा किया जाता है कि जन साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा अब राज्य की प्राथमिकताएँ बन चुकी हैं, लेकिन इसका वास्तविक परीक्षण तभी होगा जब इन क्षेत्रों के लिए बाहरी आर्थिक स्रोत समाप्त हो जाएँगे, जो कुछ समय बाद होना ही है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विश्वविद्यालयों के बजट में कटौती शिक्षा पर उदारीकरण की नीतियों के नकारात्मक प्रभाव का एक आरम्भिक चिन्ह है। इस सन्दर्भ में वे प्रस्तावित निजी विश्वविद्यालय विधेयक का भी उल्लेख करते हैं। कुछ विदेशी विश्वविद्यालयों ने जिस मजबूत और खुले रूप में बेचने के कौशल के साथ भारतीय छात्रों को लुभाना शुरू किया है, वह इसका एक और लक्षण है। बहरहाल, यह फैसला करना कठिन है कि ये लक्षण किस सीमा तक वास्तविक परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि शिक्षा की भारतीय व्यवस्था में बहुत गहरी जड़ें जमाए और काफी हद तक निरन्तर प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। ये प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं सदी के दूसरे भाग में इस व्यवस्था के निर्माण के समय से ही इसमें गहराई

से समाई हुई हैं। हाल के समय में हुए बदलावों के दीर्घकालिक प्रभावों का मूल्यांकन करने के लिए हम एक लम्बे समय से उभरकर सामने आ रही दीर्घकालिक प्रवृत्तियों पर विचार कर सकते हैं। हम भारत की आजादी के पचास वर्षों बाद इन प्रवृत्तियों द्वारा ग्रहण किए जाने वाले स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं, और फिर इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि उभरती हुई आर्थिक व्यवस्था इन्हें किस तरह प्रभावित कर सकती है। वर्तमान चर्चा के लिए मैं इन प्रवृत्तियों को तीन भागों में विभाजित करूँगा।

पहले समूह में हम प्राथमिक या जूनियर माध्यमिक स्तर से आगे बढ़ने वाले बच्चों की संख्या में भारी गिरावट से सम्बन्धित प्रवृत्तियों को रख सकते हैं। भारत में स्कूलों की संख्या (सारणी 1) पर एक सरसरी निगाह डालने से यह बात सामने आती है कि यदि संविधान-निर्माताओं की इच्छा के अनुरूप प्राथमिक शिक्षा में नामांकन कराने वाले सभी बच्चे आठ वर्षों की प्राथमिक शिक्षा पूरी करते हैं, तो जूनियर माध्यमिक या 'मिडिल' स्कूलों को इन सभी बच्चों को नामांकन देने में गहरी समस्या का सामना करना पड़ेगा। भारत में कुल 5,90,421 प्राथमिक स्कूल हैं, लेकिन सिर्फ 1,71,000 से थोड़े ज्यादा माध्यमिक स्कूल हैं। मिडिल और हाई स्कूलों के बीच का अनुपात कुछ हद तक बेहतर है। इसका अर्थ यह है कि जो बच्चे आठ वर्षों तक स्कूली शिक्षा हासिल कर लेते हैं, उनके उच्च शिक्षा हासिल करने की सम्भावना ज्यादा होती है। कम से कम वे पहली सार्वजनिक परीक्षा देने तक स्कूल में रह सकते हैं, जिसका मैं बाद में उल्लेख करूँगा। बच्चों के स्कूली शिक्षा से बाहर निकलने की परिघटना आरम्भिक कक्षाओं में ही सबसे ज्यादा होती है। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार पहली कक्षा में नामांकन कराने वाले 44 प्रतिशत बच्चे पाँचवीं कक्षा तक पहुँचने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं, और पहली कक्षा में नामांकन कराने वाले बच्चों की कुल संख्या का 63 प्रतिशत आठवीं कक्षा तक नहीं पहुँच पाता है। ये आँकड़े निराशाजनक हैं, लेकिन ये पूरी तरह ठीक नहीं हैं, और वास्तविक स्थिति इससे भी ज्यादा बुरी है।[2]

जब से वर्तमान व्यवस्था स्थापित हुई है, उस समय से नामांकन या उपस्थिति के बिल्कुल सही आँकड़ों को हासिल करना एक समस्या बनी हुई है। और यह समस्या विशेष रूप से ग्रामीण भारत में मौजूद है, जहाँ तीन-चौथाई जनसंख्या रहती है। *1917-22 की पंचवर्षीय समीक्षा* में यह उल्लेख किया गया कि जब संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में एक दिन में 100 स्कूलों की जाँच की गई तो शिक्षकों द्वारा दावा किया गया कि कुल नामांकन 8,303 था तथा औसत उपस्थिति 5,516 थी जबकि एक दिन की वास्तविक उपस्थिति 4,903 थी। उत्तर

प्रदेश के एक गाँव का दौरा करने पर आज भी यह बात सामने आएगी कि स्थिति अभी भी बदली नहीं है और बढ़ा-चढ़ाकर बताने की प्रवृत्ति इसे और भी खराब करती है। हालाँकि राज्य के दस्तावेज बताते हैं कि उत्तर प्रदेश में ड्रॉप (dropout) की दर राष्ट्रीय औसत से कम है, यहाँ तक कि यह कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और गुजरात जैसे राज्यों से भी कम है, जिनके बारे में हमें यह पता है कि उनकी प्राथमिक स्कूल की व्यवस्था उत्तर प्रदेश से बेहतर है। तथ्य यह है कि हम किसी भी तरह के आँकड़ों के आधार पर, विशेष रूप से उत्तर भारत की कम साक्षर हिन्दी पट्टी में ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा की वास्तविकता के बारे में निर्णय नहीं ले सकते हैं। जनगणना के आँकड़ों और शिक्षा मंत्रालय– जिसे 1980 के दशक के मध्य से मानव संसाधन विकास मंत्रालय के रूप में जाना जाता है –द्वारा एकत्रित आँकड़ों के बीच का अन्तर काफी समय पहले महसूस कर लिया गया था; और हाल में आई एक रिपोर्ट में भी यह स्वीकार किया गया कि ऐसा प्रतीत होता है कि सूचना के दो स्रोतों के बीच कोई मेल नहीं हैं।

हाल के वर्षों में सही आँकड़ों को हासिल करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर रुचि दिखाई गई है, और इस काम के लिए आर्थिक संसाधन भी उपलब्ध कराए गए हैं। साफ तौर पर, इसका कारण यह है कि बाहरी निवेशकों द्वारा किसी क्षेत्र विशेष में निवेश करने का फैसला वहाँ उपलब्ध श्रम की गुणवत्ता से भी प्रभावित होता है। बढ़ा-चढ़ाकर की जाने वाली रिपोर्टिंग के मूल कारणों की अभी भी उपेक्षा की जा रही है, हालाँकि अँगरेजों के समय से ही ये कारण ज्ञात रहे हैं। बुनियादी कारण प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों की अधीनस्थ, और दरअसल शक्तिहीन स्थिति है। कई दशकों से उच्चतर अधिकारियों ने शिक्षकों का समाजीकरण और प्रशिक्षण इस प्रकार किया है कि वे गलत रिकॉर्ड रखें। इस प्रशिक्षण के चलते ही हमारे पास बहुत सीधे तथ्यों के बारे में भी गलत ज्ञान है। मसलन, हमें इस बारे में सही जानकारी नहीं मिलती है कि कितने बच्चों का नामांकन हुआ है, कितने बच्चे कक्षा में आते हैं, और कितने बच्चे अगली कक्षा में जाने के लिए उत्तीर्ण हुए हैं। हर कोई यह देख सकता है कि आँकड़ों में गड़बड़ी है फिर भी आँकड़ों का यह खेल चलता रहता है। हमारे पास तब तक ग्रामीण शिक्षा के लिए बेहतर योजना बनाने का आधार नहीं हो सकता है, जब तक कि नामांकन और उपस्थिति के रिकॉर्ड को ईमानदारी से दर्ज करने में शिक्षक अपने आप को समर्थ और आजाद महसूस न करें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछले लगभग तीन दशकों से स्कूल को जल्द छोड़ने की दर लगभग स्थिर बनी हुई है। इस सन्दर्भ में कई पुरानी और गहरे स्तर पर जड़ जमा चुकी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है– पाठ्यचर्या और स्कूल की पुस्तकों का शहरी पूर्वाग्रह,

शिक्षकों के कार्य की स्थितियाँ तथा गैर-वेतन वाले खर्च से सम्बन्धित राशि का अभाव होना। लेकिन यह गहरे सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को भी दर्शाता है जो 1960 के दशक में अपनाई गई खाद्य नीति के विकल्पों तथा इसी दशक से वैश्विक और राष्ट्रीय विकासवाद की परिघटना के सामान्य पैटर्न से सम्बन्धित हैं।[3] आजादी के बाद के पहले दशक में महात्मा गाँधी से प्रभावित 'बुनियादी' शिक्षा कार्यक्रम में यह कोशिश की गई कि प्राथमिक शिक्षा को ग्रामीण शिल्प से जोड़ा जाए, लेकिन 1960 के दशक के मध्य में इस प्रयास को छोड़ दिया गया। उस समय अपनाई गई नई रणनीति में इस बात पर ध्यान दिया गया कि बड़ी और अच्छी जमीन के मालिकों के लिए दीर्घकालिक शैक्षिक अवसरों को बढ़ावा दिया जाए। 1960 के दशक के मध्य में शिक्षा आयोग ने भूमि के अत्यन्त अन्यायपूर्ण वितरण का सन्दर्भ देते हुए यह गणना की कि 'वर्तमान में (कुल 50 मिलियन खेतों में से) 15 एकड़ या उससे ज्यादा के 6 मिलियन खेत हैं... यदि हम यह कल्पना करते हैं कि एक वर्ष में तीन प्रतिशत स्वामित्व में बदलाव होगा, तो इसका अर्थ है कि प्रत्येक वर्ष लगभग 2,00,000 किसान ऐसे खेतों को विरासत में पाएँगे। यह सोचना सही लगता है कि 1986 तक, इनमें से 50 में से एक खेतिहर स्नातक होगा। इस आयोग ने नई कृषि रणनीति को स्वीकार किया जिसका लक्ष्य बड़े भू-स्वामियों को उनके भौतिक अवसरों को बढ़ाने में समर्थ बनाना था। इस रणनीति को हरित क्रान्ति (green revolution) के नाम से जाना गया। इस रणनीति का यह लक्ष्य था कि नए, संकर (hybrid) बीजों के प्रयोग से भारत को गेहूँ और चावल के उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाया जाए। गौरतलब है कि इन संकर (hybrid) बीजों के लिए बड़े पैमाने पर रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और पानी की आवश्यकता थी। इस रणनीति ने अपना लक्ष्य हासिल किया, लेकिन इसके लिए एक बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। छोटी जोत वाले किसान दरिद्र हो गए, क्षेत्रीय असमानताएँ गहरी हुईं तथा प्राकृतिक वातावरण का क्षरण हुआ। यह नया नजरिया बड़े स्तर के किसानों पर निर्भर था; इन किसानों के राजनीतिक समूहों ने पहले से ही कमजोर भूमि सुधार के कार्यक्रम को और भी ज्यादा कमजोर कर दिया। इनके प्रभुत्व ने 1970 के दशक में लोकलुभावनवादी (populist) राजनीति को प्रोत्साहित किया। बड़े पैमाने पर विस्थापन हुआ, गरीब लोग शहरों की झुग्गियों में बसने लगे, समुदाय और परिवार के टूटने का गाँवों में निरन्तर बढ़ने वाली बच्चों की आबादी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। नई नीति से विरोधाभासी नतीजे सामने आए। मसलन, इससे शिशु मृत्यु दर में गिरावट आई, किन्तु बच्चों के पोषण और सेहत में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ। निरपेक्ष (समूची) भुखमरी में गिरावट आई, लेकिन अभी भी लम्बे समय से चली आ रही भूख और बीमारी का अस्तित्व कायम रहा। यह कुछ हद तक उच्च नामांकन परन्तु खराब उपस्थिति और स्कूल जल्दी छोड़ देने की परिघटना की तरह ही था।

सारणी 1 : भारत में शैक्षिक संस्थानों की संख्या

प्राथमिक स्कूल	590421
माध्यमिक स्कूल	171216
हाई स्कूल	71055
उच्चतर माध्यमिक स्कूल	23588
कॉलेज (सामान्य डिग्री के लिए)	6569
इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेज	721
विश्वविद्यालय	215

स्रोत : *सेलेक्टेड एजुकेशनलस्टेटिस्टिक्स*, जीओआई, 1995-96

यह भी गौरतलब है कि 1960 के दशक में भारत ने तीन युद्ध लड़े। इसलिए स्वाभाविक रूप से रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को ज्यादा तात्कालिक माना गया, और इस दिशा में काम किया गया। इसका नतीजा एक प्रभावशाली सैन्य-औद्योगिक कॉम्पलेक्स के विकास के रूप में सामने आया। साक्षरता, ग्रामीण शिक्षा और स्वास्थ्य को कभी भी उच्च वरीयता प्रदान नहीं की गई; नए तरह के हालात में इनकी उपेक्षा करना ज्यादा आसान हो गया। शीत युद्ध के परिप्रेक्ष्य तथा खाद्यान्न और हथियारों की आपूर्ति की अन्तरराष्ट्रीय राजनीति ने भारत को एक ऐसे रास्ते की ओर मोड़ा जहाँ विकास को उपभोग और विज्ञान तथा तकनीक के शानदार इस्तेमाल के साथ जोड़ा गया। जनसंख्या के एक चौथाई भाग को एक ऐसी दुनिया के रूप में देखा गया, जहाँ विकास के कार्यक्रमों और आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था को सफल होते हुए देखा जा सकता था। आरम्भिक कक्षाओं के लिए नामांकन के आँकड़े अविश्वसनीय होने के बावजूद इस रूपरेखा की पुष्टि करते हैं। कक्षा एक से आठ के बीच पढ़ाई जारी रखने की दर 1960 के दशक की शुरुआत से लेकर 1980 की शुरुआत तक तकरीबन एक जैसी रही। इस से यह बात सामने आती है कि कक्षा एक में नामांकन करने वाले बच्चों में से सिर्फ एक चौथाई बच्चे ही आठवीं कक्षा तक पहुँच पाए। इस अनुपात के 37 प्रतिशत तक पहुँचने की रिपोर्ट सामने आई है (सारणी 2)।

सारणी 2 : प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल के दौरान स्कूल छोड़ने की दर

	कक्षा 1-5	कक्षा 5-8
1960-61	64.9	78.3
1970-71	67	77.9

1980-81	58.7	72.7
1990-91	44.3	63.4

स्रोत : *सेलेक्टेड एजुकेशनल स्टेटिस्टिक्स*, जीओआई, 1995-96

उन बच्चों की सामूहिक पहचानों के बारे में अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है जिन्हें स्कूल छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। ये भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और जीवन निर्वाह के लिए खेती करने वाले किसानों के बच्चे हैं। जाति के हिसाब से इनका एक बड़ा अनुपात अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित है, जिन्हें संविधान के अनुसार उच्चतर शिक्षा और प्रतिनिधिमूलक निकायों में विशेष अधिकार दिए गए हैं। सारणी 3 में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार पाँचवीं और आठवीं कक्षा के बीच और उसके बाद स्कूल में उनकी उपस्थिति तेजी से घटती गई है।[4] विशेष रूप से, मध्य भारत के इलाके में अनुसूचित जनजातियों से जुड़े बहुत से बच्चों की स्थिति ज्यादा खराब है। वन-निवासी जनजाति समुदायों को राज्य की पहल से होने वाले बाँध के निर्माण, अभयारण्यों की मदद से पर्यटन के विकास और खनन के नकारात्मक प्रभावों का सामना करना पड़ा है। इस तरह के अस्थिरता लाने वाले अनुभवों के अलावा जनजातीय संस्कृति और भाषाओं के खिलाफ पूर्वाग्रह भी स्कूली पाठ्यचर्या और शिक्षक को जनजातीय शिक्षा की उन्नति में बाधक बनाता है। इसके बाद, ग्रामीण कारीगरों का स्थान आता है, जो भारत की गौरवशाली हस्तशिल्प परम्परा के निर्माता हैं। भारत में हस्तशिल्प से जुड़े 40 मिलियन लोग हैं जिसमें से 12 मिलियन सिर्फ हथकरघा क्षेत्र से जुड़े हुए हैं। इन शिल्प या कारीगर समुदायों के बच्चों के लिए मानक स्कूली पाठ्यचर्या कितनी अप्रासंगिक और अपमानजनक है, इसे सिर्फ चन्देरी या बनारस में किसी कारीगर परिवार में एक दिन बिताने के बाद समझा जा सकता है। इसलिए यह अचरज की बात नहीं है कि कोई बहुत ही सरल और अवैज्ञानिक तरीके से यह मानता है कि ये बच्चे बहुत जल्दी स्कूल आना बन्द कर देते हैं। अन्त में, शहरी झुग्गियों में रहने वाले बच्चों के भी बहुत जल्द स्कूल छोड़ देने की सम्भावना होती है। झुग्गियों के बच्चे जिस अनिश्चितता और हिंसा के माहौल में रहते हैं, उसमें जहाँ उन्हें एक ओर स्कूल में उपेक्षा और हिंसा का सामना करना पड़ता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें माता-पिता की गरीबी के दबाव के कारण भी काम में लगना पड़ता है।

मैं जिस दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति के बारे में विस्तार से बताना चाहता हूँ, वह है उच्च शिक्षा की प्रधानता। जब भारत आजाद हुआ तो देश की कुल जनसंख्या के सिर्फ 12 प्रतिशत लोग ही साक्षर थे (यदि हम कुल जनसंख्या में से 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों को निकाल दें, तो

सिर्फ 18 प्रतिशत लोग ही साक्षर थे)। उस दौर के प्रमुख नेताओं ने यह ठीक ही माना कि साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा का विस्तार प्रमुख राष्ट्रीय वरीयताएँ हैं, फिर भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थापित पहले आयोग से विश्वविद्यालय की शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा गया। कुछ समय बाद एक अन्य आयोग की स्थापना हुई और उसे माध्यमिक शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए कहा गया। सिर्फ इस तरह के सरकारी आयोगों से ही नहीं, बल्कि नामांकन की वृद्धि दर और संस्थाओं की संख्या से भी यह बात सामने आती है कि प्रारम्भिक शिक्षा की तुलना में माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा का ज्यादा तेजी से विस्तार हुआ। यह पहले की प्रवृत्ति के अनुरूप था। स्वतंत्रता प्राप्ति ने केवल उच्चतर स्तर पर संस्थानों की वृद्धि के लिए एक नए उत्साह को प्रेरित किया। 19वीं सदी के आखिर में उच्च जाति के पढ़े-लिखे अभिजनों ने उच्चतर शिक्षा की माँग को बढ़ावा दिया। आजादी के बाद इनकी आवाज को और ज्यादा मजबूती मिली। एक विश्वविद्यालय की स्थापना करना या इससे सम्बद्ध एक कॉलेज का निर्माण करना राजनीतिक या क्षेत्रीय प्रभाव को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम बन गया। इसलिए आजादी के पहले 25 वर्षों में विश्वविद्यालयों की संख्या में चार गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई, और उसके बाद के 25 वर्षों में यह दोगुनी हो गई। जैसा कि सारणी 4 में दिखाया गया है कि उच्चतर शिक्षा में नामांकन की वार्षिक संवृद्धि दर प्रारम्भिक शिक्षा में वृद्धि की दर से आगे निकल गई। यह बात विशेष रूप से 1960 के दशक के संस्थात्मक विस्तार के बारे में भी सच थी। 1950 के दशक के आखिरी वर्षों में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान उच्चतर शिक्षा के खर्च के अनुपात में जबरदस्त वृद्धि हुई, तथा 1970 के दशक से लेकर 1980 के दशक के आरम्भ तक यही स्थिति बनी रही।

इस कहानी को पढ़ने के एक से अधिक तरीके हैं। इसका एक साफ तरीका यह समझना है कि जनता की प्रारम्भिक शिक्षा की कीमत पर माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा को बढ़ावा दिया गया। समाजशास्त्रीय सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि समाज के सांस्कृतिक रूप से प्रभुत्वशाली और आर्थिक रूप से मजबूत तबकों ने राज्य के संसाधनों का उपयोग नए कार्यों और अवसरों के राज्य के विस्तारशील तंत्र पर अपनी पकड़ को मजबूत बनाने के लिए किया। शिक्षा शुल्क की दर न्यूनतम स्तर पर रखी गई, और इसके लिए यह दलील दी गई कि यह कमजोर तबकों के लोगों को कॉलेज की शिक्षा उपलब्ध कराने में मददगार होगा। लेकिन इससे पहले से ही मजबूत लोगों को अपनी स्थिति और ज्यादा मजबूत बनाने में मदद मिली, क्योंकि वे अपने बच्चों को नौकरी के बाजार में उपलब्ध सबसे अच्छे अवसरों के लिए योग्य बनाने में

सफल हो पाए। जब इस बात की जाँच की गई कि कौन कॉलेज गया, और कौन वहाँ जाकर भी अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाया, तो काफी हद तक अपेक्षित बातें ही सामने आईं।[5] लेकिन यह भी सच है कि एक सीमित संख्या में तुलनात्मक रूप से गरीब और कुछ मामलों में, ग्रामीण पृष्ठभूमि के महत्त्वाकांक्षी लोग भी इसलिए शिक्षा ग्रहण कर पाए क्योंकि कॉलेज में शिक्षा शुल्क (tuition fee) पर अत्यधिक सब्सिडी थी। ऐसे लोगों ने और विशेष दर्जा प्राप्त अनुसूचित जातियों के लोगों ने उत्तर-औपनिवेशिक दौर में राष्ट्र-निर्माण ओर आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के दावों को वैधता प्रदान करने का काम किया।

सारणी 3 : पहली कक्षा में नामांकन के प्रतिशत के रूप में प्रत्येक कक्षा में अनुसूचित जाति के बच्चे (1986)

	ग्रामीण स्कूल	सभी स्कूल
कक्षा 5	40.3	43.8
कक्षा 8	21.1	25.8
कक्षा 10	10.9	14.9
कक्षा 12	1.8	3,6

स्रोत :पाँचवाँ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण, एनसीईआरटी, 1992

सारणी 4 : शिक्षा में वृद्धि *(प्रतिशत में औसत वार्षिक वृद्धि)*

	प्राथमिक	माध्यमिक	उच्चतर माध्यमिक	उच्चतर
नामांकन				
1951-61	6.2	8	9.2	9.8
1961-71	5	7.1	8.6	12.6
1971-81	2.6	4.5	5	5.6
1981-89	3.3	5.1	6.9	5.5
संस्थान				
1951-61	4.7	13.8	9	10
1961-71	2.1	6.2	7.8	12.5
1971-81	1.9	2.7	3.3	2.3
1981-89	1.3	2.5	4.6	1.5

स्रोत : जेबीजी तिलक और एनवी वर्गीज, फाइनेंसिंग ऑफ एजुकेशन इन इंडिया (पेरिस, यूनेस्को, 1991)

यह आखिरी बिन्दु सारणी 4 में संवृद्धि की विभिन्न दरों की दूसरी व्याख्या का सार प्रस्तुत करता है। उच्चतर शिक्षा के विकास की नेहरू के भारत में एक अत्यन्त तात्कालिक और सुस्पष्ट भूमिका थी। उच्चतर शिक्षा की इस परिकल्पना में उच्चस्तरीय अनुसन्धान केन्द्रों और

अकादमियों की स्थापना भी सम्मिलित थी। इसके पीछे एक मूल भावना यह भी थी कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर की अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था में भारत की उपस्थिति दर्ज कराई जाए। आधारभूत संरचना से सम्बन्धित बुनियादी उद्योगों की स्थापना भी नेहरू के शासन की एक प्राथमिकता थी। भारत को परमाणु और अन्तरिक्ष विज्ञानों में स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास किए गए। 1962 में चीन से युद्ध के बाद ये प्राथमिकताएँ कम महत्त्वाकांक्षी लगने लगीं : ये एक ऐसे देश की आवश्यकताएँ बन गईं जिसने खुद को प्रतिकूल भूगोल में अवस्थित पाया। परिवहन, ऊर्जा, आधुनिक खेती और रसायनों की आवश्यकताएँ स्वाभाविक रूप से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आवश्यकताओं में तब्दील हो गईं। ये अलिखित शिक्षा नीति के ज्यादा तात्कालिक और महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बन गए, तथा इन्हें गाँवों में अच्छे स्कूल खोलने और उन्हें कायम रखने की तुलना में ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। इसलिए जहाँ समानता और सामाजिक न्याय को राजनीतिक साधनों के लिए इन्तजार करना पड़ा, शिक्षा ऐसा प्राथमिक साधन बन गई, जिससे उपयुक्त लड़कों और लड़कियों को वैध तरीके से उच्चतर पेशेवर और अकादमिक डिग्रियों के लिए चुना जा सकता था। चयन के कठोर साधनों की वैधता को कायम रखने के लिए शिक्षा की व्यवस्था को एक समायोजन करने वाली माध्यमिक स्कूल व्यवस्था की आवश्यकता थी, जो एक सार्वजनिक परीक्षण द्वारा बहुउद्देशीय उच्चतर शिक्षा से जुड़ी हुई हो। स्कूल के आखिर में होने वाली परीक्षा में विफलता की उच्च दर ने कॉलेज में प्रवेश करने वाले छात्रों की संख्या को नियंत्रित रखने का काम किया और जो लोग कॉलेज आ गए, किन्तु वे प्रतिष्ठित पेशेवर पाठ्यक्रमों में आगे नहीं जा पाए, उन्हें सामान्य कला और विज्ञान के पाठ्यक्रमों में स्थान मिला, और वे उस स्थिति को सन्तुष्ट कर पाए जिसे 'डिप्लोमा बीमारी' के रूप में वर्णित किया गया था।

बहुत से इतिहासकारों ने अँग्रेज़ी शिक्षा के कारण भौतिक और सांस्कृतिक सीमाओं से जुड़े राष्ट्रीय बुद्धिजीवी-वर्ग के उदय को अँगरेजों के खिलाफ राष्ट्रवादी संघर्ष को प्रेरित करने वाले प्रमुख कारक के रूप में देखा है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग से ही प्रेस, परिवहन और डाक-व्यवस्था की तकनीक ने नागरिक और राजनीतिक संगठनों का निर्माण करने में, निर्णय लेने के कुछ क्षेत्रों में भागीदारी करने में इसे समर्थ बनाया। इस पूरी प्रक्रिया ने एक ऐसे उदार सार्वजनिक दायरे का निर्माण किया जिसमें बातचीत और समझौते के माध्यम से कुछ खास तरह के संघर्षों को सुलझाया जा सकता था। उच्चतर शिक्षा के आरम्भिक विकास और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इसके तेजी से विस्तार ने इन कार्यों का संस्थानीकरण करने में सहायता की। इस दावे में सच्चाई है कि राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग ने– जिसमें नौकरशाही, न्यायपालिका और अकादमिक जगत भी सम्मिलित है –भारत को एक रखने में सहायता की, और लोकतांत्रिक राजनीति तथा राज्य के बल-प्रयोग की शक्ति ने भी इसे मजबूती दी। यदि हम इस तथ्य को

स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि इस तरह की एकता की कीमत क्या चुकाई गई। दरअसल, इस तरह की एकता की चाह ने विशेष रूप से शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी जन-कल्याण की प्राथमिकताओं की उपेक्षा करवा दी। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों ने अभिजन बुद्धिजीवी-वर्ग को प्रशिक्षित किया, वहीं आम लोगों के पास संसदीय लोकतंत्र की उदारवादी संस्थाओं में भागीदारी करने के लिए स्वयं को प्रशिक्षित करने के लिए सिर्फ मताधिकार ही था। बाद के समय में, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों दोनों में ही, राज्य और लोगों के सम्बन्ध के बीच कई एक्टिविस्ट समझौताकार सामने आए। मानवाधिकारों, पर्यावरण और महिला अधिकारों की सुरक्षा से सम्बन्धित संघर्षों में इनकी भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। ये लोग पहले के दौर की राजनीति में शामिल पुरुषों और महिलाओं से भिन्न थे। स्थानीय स्तर पर कार्रवाई से जुड़े इन नए नेताओं ने जानबूझकर राजनीतिक पहचान से खुद को दूर रखा है लेकिन इन्होंने प्रेस, नौकरशाही और न्यायपालिका जैसी पुरानी संस्थाओं के क्षेत्र और व्यवहार को पुनर्परिभाषित करने और बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था कितनी ही अन्यायपूर्ण या गुणवत्ता के स्तर पर खस्ताहाल क्यों न हो, इसे यह श्रेय जाता है कि इसने उदारवादी लोकतांत्रिक खेल के नए और पुराने खिलाड़ियों को प्रशिक्षित करने का काम किया।

मैं जिस तीसरी और आखिरी प्रवृत्ति की चर्चा करना चाहता हूँ, वह व्यवस्था में अन्तर्निहित विभाजन से सम्बन्धित है। उप-व्यवस्थाओं की बहुतायत बहुलवाद के साथ असंगत नहीं है, लेकिन मैं उस विभाजनकारी प्रवृत्ति के बारे में बात करना चाहता हूँ जो वर्ग हितों की रक्षा करती है। 'वर्ग' शब्द भारत के सामाजिक यथार्थ के साथ पूरी तरह उपयुक्त नहीं बैठता है। अमूमन यह सिर्फ किसी विशेष समूह या समुदाय के हितों के बारे में ही बताता है जो वर्ग के निर्माण की ओर आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं। इस तरह भारतीय संविधान के अन्तर्गत अल्पसंख्यक समूहों को धार्मिक और भाषाई समुदाय के बैनर तले शैक्षिक गतिविधि संचालित करने का अधिकार है। ऐसी गतिविधि या जाति के आधार पर चलने वाली शैक्षिक गतिविधि से कभी-कभार यह लग सकता है कि यह वर्ग निर्माण की प्रक्रिया में योगदान दे रही है, और कई बार इसके विपरीत भी लग सकता है अर्थात यह वर्ग निर्माण की प्रक्रिया में बाधा पैदा करने वाली गतिविधि के रूप में भी सामने आ सकती है। ब्रिटेन के पब्लिक स्कूल मॉडल से प्रेरित भारतीय निजी स्कूली शिक्षा की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में यह बिन्दु अधिक स्पष्ट ढंग से कहा जा सकता है। जिस सीमा तक मानक और कर्मकाण्ड समूह एकजुटता की ओर संकेत करते हैं, उस सीमा तक भारत में पब्लिक स्कूलों ने भारतीय बुर्जुआ वर्ग के निर्माण में योगदान किया है, जो राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग के महत्त्वपूर्ण और प्रभुत्वशाली भाग का निर्माण करते हैं।[6]

पब्लिक स्कूल समाजीकरण के जिस एजेंडा को आगे बढ़ाते हैं उसमें ऐसे कर्मकाण्ड जुड़े हुए हैं जो संस्थान के प्रति निष्ठा, परम्परा की भावना और 'हम' सभी के एक समुदाय से जुड़े होने की भावना महत्त्वपूर्ण कारक का काम करती है। लेकिन इस एजेंडा का सबसे मुख्य भाग अँग्रेज़ी भाषा के उपयोग में सहायता प्रदान करना है। आधुनिक अर्थव्यवस्था द्वारा उपलब्ध कराई गई अवसर की संरचना से सौदेबाजी करने के लिए किसी युवा व्यक्ति के समर्थ होने की सबसे बड़ी कसौटी अँग्रेज़ी भाषा पर अच्छी पकड़ होने से जुड़ी हुई है। जिन लोगों के पास अँग्रेज़ी में सक्षमता नहीं होती है उनकी ज्यादा अच्छी आय या उच्चतर हैसियत वाली भूमिकाओं तक पहुँचने की सम्भावना भी सीमित होती है। हालाँकि सामाजिक स्तर पर किसी की स्थिति तय करने में अँग्रेज़ी में सक्षमता एकमात्र निर्धारक कारक नहीं होती है। इसके बजाय, यह उनके दीर्घकालिक लाभ और बहुत सारे मनोवैज्ञानिक नतीजों के संयुक्त संकेतक का काम करती है। फरार्टेदार अँग्रेज़ी बोलने वाले बहुत से युवाओं के बॉयो-डेटा में बहुत कम आयु से ही ऐसे निजी स्कूलों में जाने का उल्लेख होता है, जो फी या शुल्क लेते हैं। इस तरह के सभी स्कूल आरम्भिक कक्षाओं से ही हर विषय के लिए अँग्रेज़ी को एक माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते हैं, वहीं राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले स्कूल क्षेत्रीय भाषा का माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं। यह माध्यम दो व्यवस्थाओं को बिल्कुल अलग कर देता है। शुरुआत में पब्लिक स्कूल बहुत कम थे : आजादी के समय ऐसे स्कूलों की संख्या 50 थी। लेकिन आज 'पब्लिक स्कूल' को परिभाषित करना आसान नहीं है। मौजूदा समय में पब्लिक स्कूलों ने इतने सारे रूप धारण कर लिए हैं कि ब्रिटिश पब्लिक स्कूल के मूल स्वरूप को बहुत कठिनाई से पहचाना जा सकता है। इसके आनुवांशिक रूप (genotype) के अन्तर्गत किसी प्रकार की सहायता प्राप्त न करने वाले निजी स्कूलों के रूप में 3,237 माध्यमिक स्कूल सम्मिलित हैं, जो देश के कुल शहरी माध्यमिक स्कूलों के 15 प्रतिशत का निर्माण करते हैं। आज यह देखा जा सकता है कि इस तरह का आनुवांशिक रूप (genotype) कुछ प्रकार के राज्य स्कूलों और राज्य से सहायता प्राप्त कुछ बड़े गाँवों में अवस्थित स्कूलों में भी सामने आता है। अँग्रेज़ी भाषा पहले एक प्रकार के आतिथ्य (या उदारता) का प्रतीक थी, अब वह इससे मुक्त होकर पूरी तरह शैक्षिक और आर्थिक विशिष्टता का संकेतक बन चुकी है।

पब्लिक स्कूल मॉडल के प्रसार के साथ-साथ एक सामान्य और आस-पड़ोस के स्कूल की अवधारणा का क्षरण हुआ है। यह व्यवस्था की एक ज्यादा गहरी प्रवृत्ति को दिखाता है जिसमें उभरते हुए या नव-अभिजनों को औसत सुरक्षा दी जाती है, तथा उन्हें यह उम्मीद दिखाई जाती है कि वे अपनी अच्छी स्थिति कायम रख सकते हैं।[7] एक विश्वसनीय और सार्वभौमिक पहुँच

वाली व्यवस्था चला पाने में राज्य की नाकामी ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। लेकिन नव-अभिजनों के लिए न्यायसंगत द्वीपों को तैयार करने के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी प्रबल रूप से प्रेरित किया जाता है। इसलिए 1960 के दशक के आरम्भ में पूरे देश में स्थानान्तरण किए जाने वाले केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के बच्चों के लिए एक अलग स्कूल नेटवर्क की स्थापना की गई। आरम्भ में इस नेटवर्क में 20 स्कूल थे, और अब इसमें 818 स्कूल हैं। 1980 के दशक के मध्य में 'विशेष प्रतिभा वाले' (gifted) ग्रामीण बच्चों के लिए स्कूलों की श्रृंखला को स्थापित करने का प्रावधान किया गया। ऐसे बच्चों की पहचान के लिए 11 वर्ष की उम्र के बच्चों की परीक्षा लेने की व्यवस्था की गई। अब ऐसे 359 स्कूल हैं– हर जिले में ऐसा एक स्कूल है, जिसमें हर वर्ष कक्षा 6 में 80 छात्रों का नामांकन किया जाता है। ये सभी आवासीय स्कूल हैं, ये अमीर किसानों के बच्चों को एक तरह की सार्वजनिक शिक्षा उपलब्ध कराते हैं, हालाँकि इनमें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बच्चों को आरक्षित सीटों पर नामांकन दिया जाता है। ये और राज्य सरकारों द्वारा संचालित विशेषाधिकार प्राप्त स्कूलों की कुछ अन्य श्रेणियों, सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेण्डरी एजुकेशन (सीबीएसई), के अन्तर्गत आते हैं। वर्तमान समय में इसके नेटवर्क के अन्तर्गत 4,800 स्कूल आते हैं, जिनमें कुछ पाँच मिलियन बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इसमें निजी स्कूल भी सम्मिलित हैं। हम यह कह सकते हैं कि सीबीएसई और अन्य निजी रूप से संचालित शिक्षा बोर्ड पूरे देश में स्कूलों के अभिजन स्तर के लिए मैट्रिक और बारहवीं की परीक्षाएँ संचालित करते हैं, जिनसे राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग का एक बड़ा अनुपात जन्म लेता है।

भारत में निजी या गैर-सरकारी और सरकार द्वारा संचालित खास स्कूलों की व्यवस्था से सामने आने वाली जटिल सामाजिक स्थिति, जिसके तहत बच्चों का योग्यता स्तरानुसार वर्गीकरण किया जाता है, का वर्णन करने के लिए विशिष्ट स्कूली व्यवस्था ज्यादा अच्छा शब्द है। पिछले तकरीबन दो दशकों से विशिष्ट स्कूली व्यवस्था का तेजी से उदय हो रहा है। एक ऐसे समाज में इसका एक स्पष्ट कार्यात्मक तर्काधार है, जिसमें 10 में से 4 से भी कम बच्चे ही आठवीं कक्षा से आगे पढ़ाई करने में समर्थ हो पाते हैं। इनका एक प्रतीकात्मक तर्काधार भी है, जिसे समझना आसान है। विद्या की देवी सरस्वती की मुहर कमल का फूल है। यह बहुत से विशिष्ट स्कूलों के प्रतीक में अंकित है। यह इस बात को सामने लाता है कि अच्छी शिक्षा अपने लाभार्थी को अज्ञानता के कीचड़ से अलग या ऊपर करती है। अज्ञानता का यह कीचड़ कितना व्यापक और गहरा है, इसका अन्दाजा प्रान्तीय बोर्डों द्वारा 10वीं और 12वीं कक्षा की सफलता की संयुक्त दरों से लगाया जा सकता है, जिससे अधिकाँश स्कूल सम्बद्ध हैं। 1990

में 8.8 मिलियन विद्यार्थियों ने दसवीं कक्षा की या उच्चतर परीक्षा दी, जिसमें से 4.1 मिलयन या तकरीबन 46 प्रतिशत पास हुए। इनमें से 3.8 मिलियन ने 1992 में 12वीं या माध्यमिक उच्चतर परीक्षा दी, जिसमें से 1.7 मिलियन या 45 प्रतिशत विद्यार्थी पास हुए। इस तरह, इन दोनों परीक्षाओं ने देश के प्रान्तीय बोर्ड स्कूलों के विद्यार्थियों में से कुल 19 प्रतिशत को ही इस लायक पाया कि वे उच्चतर शैक्षिक योग्यता और उसके कारण मिलने वाली नौकरियों की आकाँक्षा पाल सकते थे। यद्यपि दो अखिल भारतीय बोर्डों द्वारा आयोजित की जाने वाली परीक्षाओं को ज्यादा कठिन माना जाता रहा है, किन्तु इन बोर्डों में विद्यार्थियों की सफलता दर ज्यादा रही है। सीबीएसई को यह मानक तय करने वाला माना जाता है कि प्रान्तीय बोर्डों के विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में विषयों या ज्ञान के कौन से नए नवीन भागों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। यदि किसी पाठ्यपुस्तक में यह लिखा होता है कि यह सीबीएसई के पाठ्यक्रम को सम्मिलित करता है, तो उसे बेहतर माना जाने लगता है। इसी तरह, यदि कोई स्कूल अपने साइनबोर्ड या विवरणिका (brochure) में प्रान्तीय बोर्ड के बजाय सीबीएसई बोर्ड से अपनी सम्बद्धता दिखाता है, तो उसकी हैसियत अच्छी मानी जाने लगती है।

अब मैं इस बात पर विचार करना चाहता हूँ कि मैंने जिन तीन प्रवृत्तियों का वर्णन किया है, उन पर नई आर्थिक नीतियों का क्या प्रभाव हो सकता है, और ये प्रवृत्तियाँ नई आर्थिक नीतियों के भविष्य को कैसे प्रभावित कर सकती हैं। यह बात काफी हद तक स्पष्ट है कि काफी अच्छी भावना रखने वाले बुद्धिजीवी वर्ग पिछले 50 वर्षों में जन-साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा के लिए जितना दबाव बना पाए हैं, उसकी तुलना में उदारीकरण के प्रतिपादकों ने इन पहलुओं पर ज्यादा गहरा दबाव डाला है। साक्षरता और स्कूली शिक्षा से न केवल एक ज्यादा प्रशिक्षण लायक और आज्ञाकारी श्रम-शक्ति की सम्भावना सामने आती है, बल्कि इसके साथ ही ब्रैंड के बारे में ज्यादा जागरूक उपभोक्ताओं के निर्माण की उम्मीद भी रहती है। वर्तमान समय में चल रहे वयस्क शिक्षा अभियानों तथा प्राथमिक शिक्षा को मजबूती देने वाले विदेशों से सहायता-प्राप्त कार्यक्रम से यह उम्मीद की जा सकती है कि इससे बच्चों के स्कूल छोड़ने की दर में कमी आएगी; विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा होगा जहाँ शिक्षा की जागरूक माँग अब एक हकीकत बन चुकी है। इसके साथ ही, स्कूलों की खराब गुणवत्ता भी एक ऐसा मजबूत कारक रही है, जिसके चलते ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों को स्कूल छोड़ना पड़ा और उनका उपयोग श्रम के काम में होने लगा। शहरी क्षेत्रों में यह परिघटना बच्चों के जल्दी स्कूल छोड़ने के मामले में और ज्यादा प्रभावकारी कारक की भूमिका अदा करती है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि नई आर्थिक व्यवस्था बाल श्रम की स्थिति को सुधारने के बजाय उसे और ज्यादा खराब

बनाएगी। यह भी सम्भावना है कि इसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर अप्रवासन बढ़ेगा। निर्यात को बढ़ाने के लिए मुद्रा के अवमूल्यन के साथ उदारीकरण की शुरुआत की गई। इसके माध्यम से अमीर देशों की उपभोक्ता वस्तुओं के पहले से भरे बाजार में भारतीय उत्पादों को प्रतियोगी लाभ दिलाने का प्रयास किया गया। इसका अनिवार्य नतीजा वेतन और गरीब मजूदरों की आय में कमी के रूप में सामने आया। यह एक ऐसी परिघटना है, जिसे अभी से ही महसूस किया जाने लगा है। उभरती हुई आर्थिक नीतियों के ये प्रभाव एक ओर माँग में वृद्धि तथा प्राथमिक शिक्षा के प्रावधान तथा दूसरी ओर दरिद्र हुए लोगों द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने में असमर्थता के बीच अन्तर्विरोध को ज्यादा तीखा करेंगे।

भले ही बच्चों द्वारा स्कूल छोड़ने (drop out) में होने वाली गिरावट मोटे तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों तक सीमित हो, माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक पहुँचने वाले बच्चों की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि माध्यमिक स्कूली शिक्षा पर बोझ बढ़ जाता है। नई आर्थिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता निजी या व्यावसायिक पहल है। यह व्यवस्था इस दबाव का सामना करने के लिए आगे आएगी, भले ही इसने इस दबाव का सामना करने के लिए पहले से ही काफी कुछ किया हो। राज्य द्वारा प्राकृतिक और श्रम संसाधनों का दोहन करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में निजी पूँजी को आमंत्रित करने से यह माँग पूरी हो सकती है कि स्थानीय लड़कों और लड़कियों को वरीयता के आधार पर नौकरी दी जाए। हाल के समय में निर्णय-निर्माण में स्थानीय स्वायत्तता के सन्दर्भ में यह माँग भू-क्षेत्रीय अधिकारों की ज्यादा गम्भीर दावेदारी से जुड़ सकती है। राजनीतिक समूह इस तरह की दावेदारियाँ करते रहे हैं। उन्होंने शासन व्यवस्था में एक स्वस्थ संघवाद (federalism) को लागू करवाया है, लेकिन यह भी सच है कि ये घरेलू या विदेशी निजी पूँजी द्वारा भारतीय उपमहाद्वीप में अपनी पैठ जमाने के सपने की गति को धीमा कर सकते हैं।

इस बात की पूरी सम्भावना है कि उभरती हुई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में दूसरी और तीसरी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जाएँगी। डिप्लोमा बीमारी के खत्म होने का कोई संकेत नजर नहीं आ रहा है। दरअसल यह बात सामने आ रही है कि समाज के शैक्षिक और आर्थिक रूप से वंचित तबकों में डिग्री एक हैसियत प्रदान करने वाले कारक की भूमिका निभा रही है, इसलिए इन तबकों में इसके प्रति जबरदस्त आकर्षण है। इस लालच में यह बात सम्मिलित है कि ये तबके राज्य को इस बात के लिए मजबूर करेंगे कि वह उच्चतर शिक्षा उपलब्ध कराने वाली प्रमुख भूमिका अदा करता रहे। अभिजन वर्ग के लोग अब ज्यादा से ज्यादा निजी और विदेशी संस्थानों की

ओर देखने लगेंगे, लेकिन कॉलेज ओर विश्वविद्यालय की राज्य द्वारा संचालित या सहायता-प्राप्त व्यवस्था अपने स्तर और मानकों में क्षरण के बावजूद प्रभुत्वशाली बनी रहेगी। पिछले कुछ वर्षों में विश्वविद्यालय व्यवस्था उन विकल्पों पर बैठी हुई है, जो संरचनात्मक समायोजन के दौर में इसे अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए उपलब्ध हैं। ऐसा लगता है कि मेट्रोपॉलिटन शहरों में बजट में कटौती, और विदेशी सहायता प्राप्त शोध संस्थानों और विदेशी विश्वविद्यालयों में छात्रवृत्ति (scholarship) एक सामान्य बात बन चुकी है। वैश्विक स्तर पर विचारों और चिन्तन के खिलाफ एक नकारात्मक प्रवृत्ति उभरने के कारण अकादमिक जीवन में सामान्य रूप से क्षरण देखने को मिला है। प्रतिभाशाली युवा शोधार्थियों के लिए अनुप्रयुक्त शोध, मूल्यांकनकारी अध्ययन, निगरानी और व्यवहार्यता सम्बन्धी सर्वेक्षण जैसे काम ही बचे हैं। सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि बहुत से विश्वविद्यालयों में खराब बुनियादी संरचना के खिलाफ विद्यार्थियों में आक्रोश का उभार देखा जा रहा है। यह बात सुनिश्चित लगती है कि युवा राजनीति क्षेत्रीय और गठजोड़ की राजनीति से सामने आई ऊर्जा को सोख लेगी। 1960 के दशक में कैम्पस की राजनीति छोटे-छोटे मुद्दों तक सीमित रही, ऐसा लगता है कि आने वाले भविष्य में छात्र राजनीति वास्तविक राजनीति को आकार देने वाले मुद्दों पर आधारित होगी।

हाल के वर्षों में दो तरह के मुद्दे उभरकर सामने आए हैं। एक का सामान्य विषय सामाजिक न्याय है, और दूसरे का मुख्य विषय सामूहिक आत्म-पहचान है। ऐतिहासिक रूप से सामाजिक न्याय ने सांस्कृतिक रूप से शोषित और श्रमिक वर्गों को लामबन्द किया है, वहीं सामूहिक आत्म-पहचान ने साक्षर, उच्च जाति के लोगों को प्रेरित किया है। हाल के वर्षों में कुछ महत्त्वपूर्ण, आश्चर्यजनक और अनपेक्षित गठजोड़ हुए हैं। इससे यह पता चलता है कि भारत का राजनीतिक परिदृश्य अपने दो प्रमुख विषयों पर पेचीदा बदलाव करता रहेगा। पुनरुत्थानवादी उग्रपंथ अस्मिता की राजनीति की एक विशेषता है, पिछले कुछ वर्षों में इसका तीखापन घटा है, लेकिन इसके एजेंडा में कोई खास बदलाव नहीं हुआ है। शिक्षा की अन्तर्वस्तु को परिभाषित करना इस एजेंडा का भाग है, तथा युवाओं को एक खास तरह की सोच में ढ़ालना (indoctrination) इसकी एक महत्त्वूपर्ण गतिविधि है। बहरहाल, समाज के शोषित तबकों से नए और शैक्षिक रूप से योग्य लोगों के आने से, विशेष रूप से उत्तर भारत में राजनीतिक शक्तियों के सन्तुलन में तेजी से बदलाव हुआ है। अभी यह बात अनिश्चित है कि कैसे ये कर्ता नई राजनीतिक व्यवस्था को आकार देंगे।

इस तस्वीर से यह पता चलता है कि न तो नई आर्थिक व्यवस्था काम करेगी और न ही यह नष्ट होगी। उदारीकरण के समर्थक जिन आरम्भिक बातों पर बल दे रहे हैं, भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं की शक्ति उन्हें निश्चित रूप से धारण कर लेगी। कुछ सीमा तक ऐसा हुआ भी है, और कोई यह उम्मीद कर सकता है कि मन्दी और ज्यादा स्पष्ट रूप से सामने आएगी। इसके कारण को समझना बहुत मुश्किल नहीं है। नव-उदारवाद और वैश्विकवाद को उन समाजों से कोई खास लेना-देना नहीं है जहाँ मुख्य रूप से सामाजिक न्याय ओर मनुष्यों की गरिमा को स्थापित करने के लक्ष्य को हासिल करने के लिए संघर्ष किया जा रहा है। भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग इतिहास में पहली बार लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी कर रहा है, और लोगों में आधुनिकतावाद और इससे जुड़े मूल्यों के प्रति रुझान कायम है। आज उनका संघर्ष स्वायत्तता और कल्पनाशीलता के साथ आधुनिकतावाद को परिभाषित करने से सम्बन्धित है। अभी यह स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता है कि निकटतम भविष्य में यह संघर्ष क्या आकार लेगा, लेकिन यह बात पहले से ही देखी जा सकती है कि इंटरनेट और सैटेलाइट टेलीविजन के माध्यम से उभरने वाली वैश्विक संस्कृति की फिसलनवादी कथा सुस्थापित अभिजन-स्तर की सीमाओं से आगे प्रासंगिक नहीं है। यह भी गौरतलब है कि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या के जीवन और संस्कृति में उथल-पुथल और प्रतिरोध भरा हुआ है, और अभिजनों के बढ़ते घमण्ड के कारण इसमें और ज्यादा गहनता आने की ही सम्भावना है। यह भी साफ है कि बीसवीं सदी के दौरान भारत ने जिस व्यापक सामाजिक बेचैनी का सामना किया है, वह जारी रहेगी, वैश्विक स्तर पर जो लोग भारत में निवेश करने का फैसला करेंगे, उन्हें काफी मानसिक अशान्ति का घूँट पीना पड़ेगा, यह ठीक वैसे ही है जैसे चीन में निवेश करते समय उन्हें अपने अन्तःकरण को निगलना पड़ा था।

ज्ञान और शिक्षा के सन्दर्भ में यह तथ्य याद रखने की आवश्यकता है कि इन क्षेत्रों में भारत की लम्बी परम्परा औपनिवेशिक शासन द्वारा स्थापित व्यवस्था और व्यवहारों के अनुकूल नहीं थी। हम यह उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि इलेक्ट्रॉनिक रूप से उपलब्ध सूचना के रूप में ज्ञान के नए और सस्ते संस्करण के सामने ये व्यवस्थाएँ विघटित हो जाएँगी। इस बात के पूरे संकेत हैं कि आने वाले समय में शिक्षा की हमारी व्यवस्था असहज रहेगी, यह देशज तरीकों से अध्ययनशास्त्रीय आधुनिकतावाद को ग्रहण करने का प्रयास करेगी, जो गहनता और स्मरण शक्ति के पुराने अध्ययनशास्त्रीय मूल्यों से सुसंगत होगी। भारत बहुत बड़ा देश है, इसलिए यह उपभोक्ताओं के ऐसे वैश्विक समुदाय का भाग नहीं हो सकता है, जिस पर कुछ मुट्ठी भर बड़ी कम्पनियों का नियंत्रण हो। अतीत में भारतीय अभिजनों को तकनीकी विकल्पों को चुनिन्दा रूप से स्वीकार करने और लागू करने के लिए मजबूर किया गया। इसमें समाज के निचले तबकों और अतीत के मूल्यों द्वारा क्रमश: धीरे चलने और नई तकनीकों पर प्रश्न उठाने की

परम्परा के दबाव ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह उम्मीद करना ठीक लगता है कि आने वाले वर्षों में भारत में सहभागी लोकतंत्र के विकास के साथ भारत पश्चिम को यह याद दिलाने में सफल होगा कि उसने अपने निर्माण में क्या खोया है। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि भारत पश्चिम पर काफी ध्यान देता रहा है, और यह भारत की कल्पनाशीलता को रोकने का काम करता रहा है, और भविष्य में भी इसके ऐसा ही रहने की उम्मीद है।

---

[1] इस वृहद् 'पुनर्समायोजन' के विश्लेषण के लिए देखें Gabriel Wackhermann, 'Transport, Trade, Tourism and the World Economic System'. *International Social Science Journal,* पृ. 23-39.

[2] इस विषय पर दस्तावेजों का एक जंगल मौजूद है, जिसमें ये तीन तुलनात्मक रूप से ज्यादा सारगर्भित हैं:*A Handbook of School Education and Allied Statistics,* MHRD. Government of India, 1996; *Human Development Profile of Rural India,* Vol I, NCAER (November, 1996); *Primary Education in India- A status Report,* Core Group on Citizen's Initiative on Primary Education, Bangalore, 1997; विश्व बैंक ने हाल ही में एक पुस्तक के रूप में समीक्षा का प्रकाशन किया है– *प्राइमरी Education in India* (1997); इससे कुछ पहले भारत सरकार ने 1993 में एक अन्तरराष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस के अवसर पर *Education for all- The Indian Scene* शीर्षक से रिपोर्ट प्रकाशित की थी, जो अभी भी कुछ अलग तरह के आँकड़ों के कारण प्रासंगिक है।

[3] 1960 के दशक, विशेष रूप से इस महत्त्वपूर्ण दशक में कृषि और शैक्षिक नीतियों की विवेचना के लिए देखें मेरे द्वारा लिखित लेख : 'Agricultural Modernisation and Education संकलित S Shukla और R Kaul (eds), *Education, Development and Under Development* (Sage, New Delhi, 1998), पृ. 79-98.

[4] इस विषय पर शोध समीक्षा के लिए देखें Geeta B Nambissan, 'Equity in Education? Schooling of Dalit Children in India', *Economic and Political Weekly,* (31:16 और 17, 1996), पृ. 1011-24.

[5] परीक्षा उपलब्धि के एक अध्ययन में ए. आर. कामत और ए. जी. देशमुख (*Wastage in College Education*, गोखले इंस्टीट्यूट, पूना 1963) ने यह पाया कि उच्च जाति के विद्यार्थियों की परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन करने की ज्यादा सम्भावना होती है। हालाँकि अलग-अलग जातियों या वर्गों के प्रदर्शन के बीच तुलना करने वाले ऐसे अध्ययन बहुत कम हुए हैं।

[6] यहाँ की चर्चा मेरे *Learning from Conflict* (New Orient Longman, 1996) पर आधारित है।

[7] हाल के समय में निजी शिक्षा के उदय के बारे में देखें, Geeta G Kingdon, 'Private Schooling in India– Size, Nature, and Equity– Effects', *Economic and Political Weekly* (31:51, 1996), पृ. 3306-14.